माया

(१)

लाला जगतराम ने अख़बार हाथ से रख दिया, और हुक्के की नली मुँह से लगाकर किसी गहरे सोच में डूब गये। इस समय उनकी आँखें पृथ्वी पर लगी हुई थीं, परन्तु विचार-विहंग आकाश में उड़ रहे थे। वे निर्धन आदमी थे। उनका वेतन केवल चालीस रुपये मासिक था, परन्तु उन्होंने अपनी इस अवस्था पर कभी ध्यान नहीं दिया था। उन्हें जो कुछ मिल जाता था, वे उसी पर सन्तुष्ट थे। उनका निर्वाह बड़ी कठिनाई से होता था, परन्तु उनके माथे पर कभी बल न आता था। उन्हें प्रायः अपने हाथ से कपड़े भी धोने पड़ते थे। बाबू लोग इस अपमान (?) को सहन नहीं कर सकते, परन्तु जगतराम इसे साधारण बात समझते थे। वे कहते थे, अपने कपड़े धोने में लज्जा कैसी ? यह कोई पाप तो नहीं, मनुष्य मेहनत-मज़दूरी से नाक-भौं क्यों चढ़ाये। उनकी प्रकृति सीधी-सादी थी, हृदय सरल, घर के ख़र्चों-तले दबे होने पर भी उनके मुख पर मुस्कराहट खिली रहती थी, जिस प्रकार चन्द्रमा काली बदलियों में भी चमकता है। वे दैव-गति के क़ायल थे, प्रायः कहा करते, जो भाग्य में लिखा है वह मिलकर रहेगा, और जो नहीं है वह हाथ में आकर भी चला जायगा। ये विचार उनके व्याकुल हृदय के ढाढ़स थे।

परन्तु आज अख़बार में एक छोटा सा समाचार पढ़कर उनके विश्वास की जड़ हिल गई। नार्वे के एक रसोइये के नाम ग्यारह लाख की लाटरी निकली थी। जगतराम को रास्ता मिल गया। उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो यह समाचार उनके लिए उपदेश है। इसके साथ ही दूसरे कालम में डेनमार्क की लाटरी का नोटिस था। जगतराम का हृदय नाचने लगा, जिस प्रकार काली घटा को देखकर मोर नाचने लगता है। इस समय उनको ऐसी प्रसन्नता हुई, मानो भूले हुए बटोही को सैकड़ों पगडंडियों में से सीधा मार्ग मिल गया हो। उनको विश्वास हो गया कि इस लाटरी का मेरे नाम निकल आना निश्चयात्मक है। वर्षों का सन्तोष एक ही क्षण में दूर हो गया। उन्होंने अख़बार को फिर हाथ में लिया और उसमें मग्न हो गये। इतने में उनकी स्त्री विद्यावती ने आकर उनके कन्धे पर हाथ रख दिया और प्यार से पूछा—"क्या सोच रहे हो?"

जगतराम ने आँखें बन्द कर लीं, मानो उन्होंने कोई ऐसा मनोहर दृश्य देखा था जिसे वे भूलना नहीं चाहते थे, और उत्तर दिया—"कुछ न पूछो।"

विद्यावती ने चकित होकर पूछा—"कोई ऐसी बात है?"

"तुम समझ ही नहीं सकतीं।"

"तो आप ही बता दें।"

जगतराम ने धीरे से अख़बार हाथ में ले लिया और बोले—"मैं लाटरी का टिकट ख़रीदनेवाला हूँ।"

"कितने रुपये ख़र्च होंगे?"

"पच्चीस।"

विद्यावती चौंककर रह गई, जैसे कोई अनहोनी बात सुन ली हो। पच्चीस रुपये का टिकट ख़रीदना उसके लिए ऐसा निरर्थक ख़र्च था, जो पाप नहीं तो पाप के लगभग अवश्य था। स्वामी का मान रखने के लिए उसने उस समय कुछ न कहा। परन्तु हृदय के भाव मुख पर झलके बिना नहीं रहते, दोनों दिलों में बात खटक गई। साथ ही अपनी तङ्गी और निर्धनता का विचार आया। जगतराम का हृदय सहम गया। उन्होंने स्त्री की ओर ऐसी दृष्टि से देखा, मानो उनसे कोई अपराध हो गया हो। हिचकिचाते हुए बोले—

"मुझे यह जूआ खेल लेने दो, मेरे कान में कोई कह रहा है कि लाटरी मेरे नाम अवश्यमेव निकल आयेगी।"

विद्यावती ना न कर सकी। उसके पास पैसा पैसा करके बचाये हुए पच्चीस रुपये थे। उनसे वह अपने लिए कोई छोटा-मोटा आभूषण बनवाना चाहती थी। परन्तु स्वामी की ख़ातिर उसने यह विचार हृदय से दूर कर दिया और रुपये जगतराम के हाथ में दे दिये। भाग्य भरोसे पाँसा फेंक दिया गया।

(२)

अब जगतराम को दिन-रात लाटरी का ध्यान रहने लगा। रात को सोते सोते चौंक उठते। दिन को आफ़िस में काम करते करते आतुर हो जाते। डाकवाले को देखकर उनका हृदय धड़कने लगता था। तारवाला दिखाई दे जाता तो हाथ-पाँव फूल जाते थे। उनको इस बात का वहम हो गया था कि लाटरी मेरे नाम ही निकलेगी। इसलिए घर में बैठते तो इसी के क़िस्से छेड़ देते और भविष्य का चित्र बनाने लगते। कभी कहते, माल रोड पर कोठी बनवा लेंगे। कभी कहते, सोलन जा बसेंगे। इतना ही नहीं, कोठी की सजावट की चर्चा चल पड़ती तो मुँह फुलाकर विचित्र भाव से कहते, अख़बार मेरे सौभाग्य पर नोट लिखेंगे, और सुहृद् मित्र बधाइयाँ देने आयँगे, कहेंगे यार कैसी तुच्छ नौकरी कर रहे थे, विधाता ने तुम्हें राज दे दिया। मैं शान्ति और धीरता से उत्तर दूँगा, परमेश्वर की दया और आप लोगों का अनुग्रह। इससे उन पर मेरा रोब छा जायगा। विद्यावती कहती, मैं सारे महल्ले में लड्डू बाटूँगी और अनाथालय में रुपये भिजवाऊँगी। जगतराम तुरन्त उत्तर देते, अवश्य, अवश्य! रुपये से किसी का उपकार न हुआ तो उसका होना न होना बराबर है।

इसी प्रकार तीन महीने बीत गये। जगतराम विद्यावती प्रतिक्षण व्याकुल रहने लगे, जिस प्रकार विद्यार्थी परीक्षा का परिणाम निकलने से पहले घबरा जाता है। अब उनको मासिक वेतन लेकर प्रसन्नता नहीं होती थी। आशा ने शान्त हृदय के अन्दर चञ्चलता उत्पन्न कर दी थी। तृष्णा सन्तोष की बैरिन है, यह जहाँ पाँव जमाती है, सन्तोष को भगा देती है। परन्तु जब कई दिन बीत गये और कोई सूचना न मिली तब निराश से हो गये। हृदय ने कहा,

यह विचार छोड़ दो, इसमें रखा ही क्या है। परन्तु आशा ने ठंडी साँस भरी, "जिन लोगों को इनाम मिलता है, वे क्या आकाश से उतरते हैं, वे भी तो मनुष्य ही होंगे।" गिरता गिरता हृदय फिर सँभल गया। आशा ने कुछ दिन और बाट देखी, परन्तु फिर भी कोई सूचना न मिली, तब फिर निराश हो गये। यह निराशा कितनी दुःखजनक, कितनी भयानक थी, जिसे आशा की एक किरण ने और भी अन्धकारमयी बना दिया था; जिस प्रकार तिनका जल के प्रवाह में पड़कर लुप्त हो जाता है।

सायङ्काल था। विद्यावती और जगतराम छत पर लेटे हुए अपने अपने विचारों में मग्न थे। इन तीन-चार महीनों में उनका ख़र्च ज़्यादा हो गया था। लाटरी की आशा ने साहस बढ़ा दिया था, इसलिए उन पर बहुत सा ऋण चढ़ गया था। विद्यावती सोचती थी, क्या होगा? दस रुपये बनिये के देने हैं, पन्द्रह बज़ाज़ के और अभी तलब मिलने में पन्द्रह दिन बाक़ी हैं। एक एक करके चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, परन्तु सब ओर अन्धकार दिखाई दिया। इतने में किसी ने दरवाज़े पर थपकी दी। विद्यावती का कलेजा उछलने लगा। आगे बढ़कर बोली, "कौन है?"

उत्तर मिला, "तार ले जाइए।"

विद्यावती की नस नस में हर्ष की तरङ्ग दौड़ गई। आशा सामने खड़ी थी। जगतराम भागे भागे नीचे गये और तार लेकर पढ़ने लगे। आशा विश्वास में बदल गई, चिल्ला कर बोले—"लाटरी निकल आई।"

(३)

लाटरी निकल आई, कैसे चित्त को लुभोनेवाले शब्द थे। विद्यावती के हृदय-सागर में आनन्द की तरङ्गें उठने लगीं। भिखारिन को राज मिल गया। वह दौड़ती हुई नीचे उतरी और जगतराम के कन्धे पर हाथ रखकर खड़ी हो गई। इस समय उनके हाथ में तार का फ़ार्म केले के पत्ते की नाईं काप रहा था। उन्होंने स्त्री को देखते ही ज़ोर से कहा—"लो बधाई दो। हमारे नाम दूसरा इनाम निकला है।"

विद्यावती हर्ष से उछल पड़ी, और बोली—"कितने रुपये का?"

"तीन लाख का।"

विद्यावती की आँखों में आँसू आ गये—फूलों पर बारिश हो गई। जगतराम ने आनन्द के झोंकों में मस्त होकर कहा—"मैं न कहता था, हमारे भाग जागनेवाले हैं।" विद्यावती ने सजल नेत्रों से स्वामी की ओर देखा और बोली—"महल्ले में मिठाई बाँटनी है।"

"अब यह भी कोई बड़ी बात है। बाज़ार जा रहा हूँ, हलवाई से कहता जाऊँगा, वह पहुँचा देगा।"

"परन्तु रुपया?"

"कैसी मूर्ख हो, अब भी रुपये की कमी है, जिससे चाहूँ हज़ारों ले सकता हूँ।"

यह कहते कहते जगतराम बाहर चले गये। विद्यावती वहीं खड़ी रह गई, जैसे, मिट्टी की मूर्ति हो। इतने में बाहर शोर सा सुनाई दिया। विद्यावती दौड़कर बाहर निकली, देखा कि तार-घर का चपरासी औंधे मुँह नाली में पड़ा है, और जगतराम उसे गालियाँ दे रहे हैं। विद्यावती ने हैरान होकर पूछा—"क्या बात है?"

जगतराम ने उसे एक लात और मारी और विद्यावती से बोले—"सरकारी नौकर है। तार लाने का इनाम माँगता है, जैसे हम पर कोई बड़ा उपकार किया है। बेईमान कहीं का।"

विद्यावती ने गाल पर उँगली रखकर उत्तर दिया—"यह आपने क्या किया। मजूर आदमी है, चार पैसे दे देते तो क्या हम ग़रीब हो जाते। बेचारा इतनी बड़ी ख़बर लाया है।"

यह शब्द किसी और समय जगतराम के क्रोध पर पानी का काम करते, परन्तु इस समय तेल बन गये। नया नया रुपया मिला था, कड़ककर बोले—"मैं इसे पुलिस के हवाले कर दूँगा।"

विद्यावती के हृदय में एक नया विचार उत्पन्न हुआ, क्या रुपया मनुष्य की प्रकृति को भी बदल देता है। कैसे साधु-स्वभाव थे, इनकी भलमंसी की सारे नगर में धूम थी। इन्होंने कभी किसी को तू कहकर नहीं बुलाया था, पर इस समय एक ग़रीब चपरासी को गालियाँ दे रहे हैं और मार रहे हैं।

विद्यावती की आँखों में आँसू आ गये। उसने बड़ी कठिनाई से स्वामी को रोका और चपरासी की जान छुड़वाई। उसके लिए यही इनाम था।

दूसरे दिन विद्यावती महल्ले में मिठाई बाँटने निकली। इस समय उसके पाँव पृथ्वी पर न पड़ते थे। उसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह आकाश में उड़ रही है, और संसार उसकी ओर ईर्ष्या की दृष्टि से देख रहा है। महल्ले की स्त्रियाँ उसे बधाइयाँ दे रही थीं। उन बधाइयों में कितना जोश, कितनी भावुकता थी, जिसमें ठण्डक के स्थान में जलन ज़्यादा मिली हुई थी। विद्यावती के सम्मुख नई सृष्टि खुल गई। माया जादू है, यह सुना करती थी, परन्तु आज प्रत्यक्ष देख लिया। उसने किसी को कुछ दे नहीं दिया, किसी का कोई विशेष हित नहीं कर दिया, परन्तु फिर भी स्त्रियों की बातचीत का ढङ्ग उसके साथ ऐसा आदर-युक्त था, मानो वह उनकी रानी हो। यही स्त्रियाँ थीं जो उसकी परवा तक नहीं करती थीं। उस समय उसको उनकी परवा की आवश्यकता थी। परन्तु आज उसकी राह में आँखें बिछ रही हैं, यद्यपि अब उसको उनकी सहानुभूति की तनिक भी परवा न थी। रुपये ने इस ओर से उसे बेपरवा बना दिया था। वह जिस जिस दरवाजे पर जाती थी, स्त्रियाँ उसके गिर्द घेरा डाल लेती थीं, जैसे वह द्युलोक से उतरी हो। विद्यावती अपने सौभाग्य पर फूली न समाती थी। वह चाहती थी कि हृदय के विचार चेहरे पर प्रकट न हों, परन्तु यह प्रयत्न नितान्त व्यर्थ था, जिस प्रकार दर्पण के सम्मुख किसी को खड़ा करके यह आशा करना व्यर्थ है कि उसका रूप उसमें दिखाई न दे।

एक सहेली ने कहा—"परमात्मा ने तुम्हें राजगद्दी दी है, अब हमें भूल न जाना।"

विद्यावती के आत्माभिमान को इससे आघात पहुँचा। उसने भर्राये हुए स्वर में उत्तर दिया—"बहन! क्या कभी ऐसा भी हो सकता है?"

दूसरी बोली—"अब कुछ धर्म का काम भी करना।"

विद्यावती ने उत्तर दिया—"कुछ रुपया अनाथालय भिजवा दूँगी।"

धर्मदेवी बोली—"तुमने मन्दिर बनवाने की मिन्नत मानी थी, अब क्या विचार है?"

विद्यावती ने दृढ़ सङ्कल्प के साथ सिर ऊँचा उठाया, और उत्तर दिया—

"हाँ रुपया आते ही इमारत का काम आरम्भ करा दूँगी।"

"भूल न जाना, रुपया बुरी बला है।"

विद्यावती ने तीखी दृष्टि से देखकर कहा—"तो क्या अब मिन्नत मान कर भी पूरी न करूँगी?"

पूरनदेवी बोलीं—"जब माया आती है तब बुद्धि चली जाती है।"

विद्यावती चौंक पड़ी, जैसे किसी ने ऊँची चोटी से गिरा दिया हो। सोचने लगी, क्या यह सचमुच ठीक है। क्या इससे उनका शील स्वभाव बदल जायगा? हृदय ने कहा, ओह नहीं। विद्यावती का मुख लाल हो गया। परन्तु मन ने सहसा तारघर के चपरासी की घटना आँखों के सामने रख दी। विद्यावती का चेहरा फिर से मुरझा गया, परन्तु उसने इस विचार-संग्राम को सहेलियों पर प्रकट न होने दिया और कहा, "ये सब कहने की बातें हैं, मेरा तो विचार है कि बुद्धि माया की मा है, जहाँ जाती है बेटी को साथ ले जाती है।"

इस उत्तर ने सबका मुँह बन्द कर दिया। किसी को बोलने का साहस न हुआ।

(४)

जब साँझ हो गई तब विद्यावती घर को वापस हुई। इस समय उसके दिमाग़ में कई प्रकार के विचार चक्कर खा रहे थे। सोचती थी, क्या से क्या हो गये। कल तक पैसे पैसे को तरसते थे। आज लाखों के मालिक हैं। यह सब परमात्मा की दया है। परन्तु धर्मदेवी की बात इस आनन्द को किरकिरा कर देती थी, जैसे स्वादिष्ट हलुवे में कङ्कर निकल आये। वह चाहती थी कि यह विचार उसके हृदय से निकल जाय, परन्तु निकलता न था। इतने में जगतराम अन्दर आये। विद्यावती उन्हें देखकर सन्नाटे में आगई। उनका वेश इतना बहुमूल्य था, मानो वे डिप्टी कमिश्नर हों। मुँह में टर्किश-सिगार था, सिर पर अँगरेज़ी टोपी, और पाँवों में चमकता हुआ बूट। उनके पीछे पीछे एक नौकर एक बक्स उठाये हुए अन्दर आया। विद्यावती ने जल्दी से मुँह पर घूँघट खींच लिया और एक कोने में दबक गई। जगतराम स्वयं भी पर्दे को अच्छा समझते थे, परन्तु इस समय उनको यह चेष्टा बहुत बुरी लगी। नौकर के बाहर चले जाने पर बोले, "यह पर्दा-वर्दा फ़ज़ूल वहम है। मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता।"

विद्यावती के हृदय पर दूसरी चोट लगी। उसने धीरे से कहा—"तो क्या अब मेमों की तरह खुले मुँह फिरा करूँ?"

"क्या हानि है?"

"मुझसे यह न होगा और सब कुछ कर लूँगी। मैं आपसे कहती हूँ कि मुझे क्षमा करें।"

"और मैं तुमसे कहता हूँ कि मेरा कहा मान लो।"

विद्यावती का मुख कपास के फूल की तरह पीला हो गया, घबराकर बोली—"और सब मान लूँगी, एक यह न होगा।"

जगतराम ने मन ही मन में कुछ सोचकर कहा, "अच्छा अभी न सही, पर इस समय यह कपड़े तो पहन लो। बहुत से रुपये ख़र्च कर आया हूँ।"

विद्यावती ने बक्स को खोला तो सन्नाटे में आ गई। उसे यह ख़याल तक न था कि उसे वे अँगरेज़ी कपड़े पहनने पर बाध्य करेंगे. विवश होकर बोली—"मुझे विलायती वेश पहनने की आदत नहीं।"

"परन्तु अब तो पहनने ही होंगे।"

"मैं नहीं पहनूँगी।"

जगतराम खिसिया गये, और कड़ककर बोले, "यह लिबास तुम्हें पहनना पड़ेगा

विद्यावती को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने कलेजे में छुरी भोंक दी हो। इससे पहले कभी किसी ने उसे कठोर शब्द न कहा था, आज उसका हृदय सहम गया। उसने स्वामी की ओर इस प्रकार देखा, जैसे हिरनी शिकारी को देखती है। परन्तु जगतराम की आँखों में दया न थी, बुझे हुए मन से वही कपड़े पहनने लगी।

(५)

रात्रि का समय था। आकाश के आँगन में तारों के दीपक जगमगाते थे। जगतराम विद्यावती को मोटर पर बिठाकर बाज़ार की सैर को निकले परन्तु उनको सैर की अपेक्षा दिखावा अधिक प्रिय था। वे लोगों को दिखाना चाहते थे कि जगतराम आज राजाओं के समान ऐश्वर्य्य-शाली है। वे लोगों की ओर इस प्रकार देखते थे, जैसे वे उनकी प्रजा थे। आँखों से अभिमान और ओछा-

पन टपकता था। परन्तु विद्यावती की यह दशा न थी। वह नववधू के समान सिमटी-सिमटाई बैठी थी। लज्जा से देह पसीना पसीना हो रही थी। वह सोचती थी, इनको हो क्या गया है। अब रुपया मिला है तो क्या अपनी मर्यादा भी छोड़ दें। एकाएक धर्मदेवी का कहना याद आ गया, लज्जा ने मुँह लाल कर दिया। मोटर उड़ता हुआ जा रहा था। कोई और समय होता तो विद्यावती इस सवारी पर मान करती, परन्तु इस समय यह उसके लिए दुख का कारण थी।

इतने में मोटर एक बड़े मकान के सामने रुका और जगतराम ऊपर चढ़ गये। विद्यावती ने समझा, कोई दूकान होगी, कुछ ख़रीदने गये हैं। इतना रुपया हाथ आया है, मन का चाव पूरा कर रहे हैं। परन्तु उसे कितना आश्चर्य हुआ, जब मकान पर से सारङ्गी और तबले की थपक सुनाई दी, और कुछ ही देर बाद जगतराम एक स्त्री को साथ लिये नीचे उतरे। यह स्त्री सुन्दर थी, परन्तु उसकी सुन्दरता में विष मिला हुआ था। विद्यावती ठिठक-सी गई और बोली—"यह कौन है?"

जगतराम ने उसे मोटर में सवार किया और आप बैठते हुए कहा—"तुम इनको नहीं जानतीं?"

मोटर चलने लगा।

"नहीं, मैंने इन्हें आज पहली बार देखा है।"

"यह इस शहर की सबसे बड़ी गानेवाली राहतजान है।"

अपने को राहतजान के साथ बैठी जानकर विद्यावती इस तरह पीछे हटी, मानो वह स्त्री नहीं प्रत्युत सर्पिणी है—"इसका यहाँ क्या काम है?"

राहतजान पर घड़ों पानी पड़ गया। परन्तु जगतराम ने धीरज से उत्तर दिया, "मरी क्यों जाती हो। यह तुम्हें खा तो नहीं जायगी?"

विद्यावती ने अपनी गरदन इस तरह ऊँची उठाई, जैसे किसी ने नागिन को छेड़ दिया हो। आँखों से आग के चिङ्गारे निकल रहे थे। उसने कहा—"मुझे उतार दो, मैं इसके साथ न बैठ सकूँगी।"

यह कहते कहते वह खड़ी हो गई। उसके लिए राहतजान के साथ एक मोटर में बैठना घोर अपमान था। उसने दोबारा चिल्लाकर कहा—"मोटर रोक लो, नहीं तो मैं कूद पड़ूँगी।"

जगतराम बोले—"क्यों अकारथ झगड़ा करती हो। जानती नहीं मैं तीन लाख का आदमी हूँ। और सेठ-साहूकारों के यहाँ सैकड़ों प्रकार के आमोद-प्रमोद होते हैं। इन्हें तुम आज से बहन समझो।"

विद्यावती के तन में काटो तो लहू नहीं। धर्मदेवी का वचन फिर याद आ गया। यही जगतराम थे, जो कल तक पराई स्त्री की ओर आँख उठाकर देखना भी पाप समझते थे, आज एक वेश्या को साथ बिठाये हुए बाज़ार में जा रहे हैं। और इतना ही नहीं, उन्हें इस निर्लज्ज स्त्री को अपनी स्त्री की बहन कहने में भी लज्जा नहीं। विद्यावती की आँखों से आँसू बहने लगे। मनुष्य इतनी जल्दी इतना पतित, इतना नीच हो सकता है, इसकी उसे आशा न थी। उसने सोचा, निर्धनता कैसी अच्छी थी, रुपया पास न था, परन्तु सुख आगे-पीछे फिरता था। अब रुपया बहुत है, परन्तु हृदय में शान्ति नहीं। वह धन को फूलों की शय्या समझती थी, परन्तु यह विचार न था कि इसमें ऐसे नोकीले काँटे भी होंगे।

एकाएक वह ज़ोर से चिल्ला उठी—"मोटर रोक लो, कोई कुचल जायगा।"

बाज़ार में भीड़ थी, परन्तु जगतराम ने परवा न की, और मोटर को और भी तेज़ कर दिया। दो लड़के नीचे आ गये। मोटर रुक गया। लोग उसके गिर्द इकट्ठे हो गये। जगतराम की अब आँख खुल गई थी, परन्तु समय बीत चुका था। इतने में एक सिपाही ने आगे बढ़कर उनके हाथों में हथकड़ी डाल दी, और थाने को ले चला। विद्यावती का रङ्ग उड़ गया। कई घण्टे से एक स्वप्न सा देख रही थी, यह गिरफ़्तारी उसका स्वप्न फल था, परन्तु कैसा करुणाजनक, कैसा हृदयवेधक! विद्यावती सोचने लगी, क्या धन में यही गुण हैं। वह वेश्या कहाँ चली गई, इसका कोई पता न लगा।

थोड़ी देर में वह थाने पहुँच गई। वहाँ पर भी बहुत से लोग इकट्ठे हो रहे थे। मोटर आता देख पुलिस का एक कर्मचारी बाहर निकल आया। विद्यावती ने सिपाही से पूछा—"अभी यहाँ कोई बाबू गिरिफ़्तार होकर आया है क्या?"

सिपाही ने उसे सिर से पाँवों तक देखा, और बोला—"जिसके मोटर के नीचे दो लड़के कुचले गये हैं?"

"हाँ वही।"

"परन्तु उसने तो यहाँ आकर एक और हत्या कर डाली है।"

विद्यावती के रोंगटे खड़े हो गये, घबराकर बोली—"वह किस तरह ?"

"जिसने उसे गिरफ़्तार किया था उसे पिस्तौल मार दिया।"

"परन्तु उसके हाथों में तो हथकड़ी थी।"

"रास्ते में उसने धनाढ्य समझकर हथकड़ी निकाल दी थी।"

विद्यावती ने ठण्ढी साँस ली और कम्पित स्वर में कहा—"तो अब क्या होगा ?"

सिपाही कुछ देर चुप रहा और फिर बोला—"अब तो फाँसी से कम सज़ा न होगी।"

(६)

विद्यावती के कानों में जैसे किसी ने गर्म सीसा डाल दिया। सिपाही का एक एक शब्द उसके हृदय पर हथौड़े की चोट था। वह चिन्ता में डूब गई। अभी अभी कैसी प्रसन्न थी, महल्ले की स्त्रियाँ बधाइयाँ दे रही थीं, परन्तु दो ही घण्टे में क्या से क्या हो गया। वह पहली बार लाटरी का नाम सुनकर हर्ष से उछल पड़ी थी। परन्तु यह पता न था कि यह हर्ष डूबते हुए सूर्य की लाली की नाईं है, जिसके पीछे अँधेरी रात छिपी होती है। इस अँधेरे में उसका सर्वस्व नष्ट हो गया। सोचने लगी—"क्या सब कुछ देकर वह वापस लिया जा सकता है ?"

एकाएक उसे एक रास्ता सूझ गया। उसने सिपाही का हाथ पकड़ा और उसे एक कोने में ले गई। पति के विचार ने स्वाभाविक लज्जा को दबा लिया था। वहाँ जाकर उसने आँसुओं से भीगी हुई अपनी उदास आँखें ऊपर उठाईं और कहा—"क्या अब किसी प्रकार भी नहीं बच सकते ?"

"नहीं।"

'यदि रुपया पानी की तरह बहा दूँ तो भी नहीं ?"

"तो भी नहीं।"

विद्यावती ने अन्धकारमय आकाश की ओर देखते हुए कहा—"हमारे नाम लाटरी में आज तीन लाख रुपया निकला है। वह मैं सबका सब लुटा दूँगी। क्या फिर भी नहीं ?"

सिपाही दो क़दम पीछे हट गया और आश्चर्य से बोला—"क्या कहा, तीन लाख रुपया?"

डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। विद्यावती ने उत्तर दिया—"हाँ, तीन लाख रुपया।"

सिपाही ने विद्यावती की ओर इस प्रकार देखा, जैसे बालक चन्द्रमा को देखता है। कदाचित् वह सोच रहा था कि यदि मेरे वश में होता तो मैं यह सौदा तुरन्त स्वीकार कर लेता। पर बात अधिकारियों तक पहुँच चुकी थी, अब यह कैसे हो सकता था। उसने धीरे से कहा—"कोई अँगरेज़ बैरिस्टर खड़ा करो तो छूट सकेंगे।"

"मैं एक नहीं दर्जनों बैरिस्टर खड़े कर दूँगी।"

"तो उनका छूट जाना कठिन नहीं।"

विद्यावती को कुछ आशा बँध गई, उसने कुछ देर सोचकर कहा—"मैं उनसे मिलना चाहती हूँ।"

कुछ देर बाद वह उस कमरे के सामने खड़ी थी जिसमें जगतराम बन्द थे। उनके हाथों में हथकड़ियाँ थीं, पाँवों में बेड़ियाँ। मुँह पर निराशा और शोक बरस रहा था। आँखों में आँसू भरे हुए थे। उनको निश्चय हो चला था कि अब मेरा बचना असम्भव है। विद्यावती के कलेजे में जैसे किसी ने छुरी भोंक दी। उसने जँगले के समीप जाकर कहा—"प्राणनाथ!"

यही स्वर था, जिसको सुनकर जगतराम गद्गद हो जाया करते थे, परन्तु इस समय उसमें वह मोहनी, वह माधुरी न थी। उन्होंने उसकी ओर कातर दृष्टि से देखा और सिर नीचे झुका लिया। उनकी आँखों में पश्चात्ताप और अपराध की स्वीकृति छिपी हुई थी। विद्यावती के धैर्य्य पर वज्रपात हुआ। उसने अपना सिर ज़ोर से लोहे की दीवार से दे मारा, और इसके साथ ही.....

(७)

विद्यावती की आँख खुल गई—यह सब स्वप्न था, और जगतराम उसके ऊपर झुके हुए कह रहे थे—"देखो बनिया रुपयों के लिए बार बार तगादे कर रहा है। अब क्या करना चाहिए।"

विद्यावती की देह पसीना पसीना हो रही थी और कलेजा धक धक कर रहा था। उसको एकाएक अपनी आँखों पर विश्वास न आया कि यह सब स्वप्न था। परन्तु जब सुधि ठिकाने आई तब वह ऐसी प्रसन्न थी, जैसे किसी फाँसी के अपराधी को छोड़ देने की आज्ञा हो गई हो।

जगतराम ने सिर झुकाकर कहा—"परमात्मा! हमारे नाम लाटरी का इनाम निकल आये।"

विद्यावती को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उसको कोई शाप दे रहा है। वह घुटनों के बल झुक गई और दोनों हाथ आकाश की तरफ़ उठाकर बोली—"परमात्मा करे यह कभी न हो।"

जगतराम चकित हो गये। उन्होंने समझा, विद्यावती पागल हो गई है। परन्तु जो कुछ विद्यावती ने देखा था, यदि वही जगतराम देख लेते तो निस्सन्देह वे स्वयं भी पागल हो जाते।

———